प्रारम्भिक पुराणों में प्रतिबिम्बित वर्णाश्रम व्यवस्था : एक समाजार्थिक अध्ययन'' राजेन्द्र कुमार

शोधछात्र
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
म उंपसण रू तंरमदकतांचनबंन/हउंपसण्बवउ
9208104345
पताः कक्ष संख्या–41, अमरनाथ झा छात्रावास
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद–211002

साहित्य अपने समय के सामाजिक जीवन का दर्पण होता है। भारतीय वाँ.मय में पुराण साहित्य इस देश की मिट्टी में जन्में तथा समय के अन्तराल में विकसित समग्र जीवन अवस्थाओं का समाहार करता है। भारतीय मनीषा को पौराणिक वाँ.मय प्राचीनकाल से उपलब्ध है। राष्ट्रीय जीवन के प्रतिनिधि होने के कारण पुराणों में इस देश के साहित्य तथा संस्कृति का भव्य रूप प्राप्त होता है। अनुसंधानों से यह तथ्य स्थापित हो चुका है कि पुराणों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की विपुल सम्पदा सुरक्षित है। वैदिक मंत्र द्रष्टा ऋषियों की दृष्टि अधिकांशतः प्राकृतिक शक्तियों की पहचान, उपासना तथा प्राकृतिक तत्वों के साथ उनके अनन्योयाश्रित सम्बन्धों की व्याख्या पर ही अधिक थी, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज की जनसामान्य एवं उच्च वर्गीय समग्र रूपरेखा प्रस्तुत करने में उनका स्थान पूर्ण नहीं कहा जा सकता, परन्तु पुराणकारों की दृष्टि अपने युग के समाज पर पूर्णरूपेण पड़ी थी। उनकी दृष्टि न केवल वैदिक परम्परा पोषित उच्च वर्गीय समाज पर थी अथवा समाज की परिवर्तनशील अवस्थाओं की व्याख्या पर ही थी, अपितु आर्येत्तर जनसामान्य जीवन अवस्थाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुरेखन पर भी थी। इस तरह वैदिक ऋचाओं में भारतीय सामाजिक जीवन का जो पक्ष अनुस्युत नहीं हो सका था उसको भी पुराणकारों ने अपने साहित्य में सम्यक् स्थान देकर उपबृंहित किया।

पुराण साहित्य की प्रकृति यद्यपि मूलतः माइथोलाजिकल (देवशास्त्रीय) है, परन्तु उसमें विवेच्य विषय भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं उसकी सामाजिक संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास की संरचना में पौराणिक साहित्य की महत्ता स्वतः स्पष्ट है। पुराणों के प्रारम्भिक वर्ण्य–विषय उत्तरवर्ती सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विषय–वस्तुओं के समाहार को देखते हुए उनको प्रारम्भिक एवं परवर्ती पुराणों के नाम से संबोधित किया जाता है। विद्वानों की आम धारणा यह है कि प्रारम्भिक पुराण वे हैं, जिनमें पंचलक्षणात्मक विषयों को सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से सामान्यतया मत्स्य, वायु, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों को प्रारम्भिक पुराणों की कोटि में परिगणित किया जाता है। इन चारों पुराणों में वर्णित भारतीय समाज एवं उसमें व्याप्त वर्णीय एवं वर्गीय समाज की अवधारणा न्यूनाधिक अन्तरों के साथ बहुत कुछ समरूप है। अस्तु, उपर्युक्त पुराणों में प्राप्त पाठ–साम्यों एवं पाठ–भेदों के आलोक में समीक्षात्मक अनुशीलन तत्कालीन सामाजिक जीवन एवं समाज व्यवस्था की गहराई के साथ किया जाना अपेक्षित है।

प्रारम्भिक पुराणों में ऐतिहासिक तत्व विद्यमान है। यह सच है कि प्राचीन भारतीय वैदिक आर्य वर्ण–व्यवस्था को पुराणकारों ने परम्परा न केवल स्वीकार किया है, अपितु उसे यथाशक्ति सुदृढ़ता भी प्रदान किया है। परन्तु पुराणांशों के सूक्ष्म समीक्षात्मक अध्ययनों से भारतीय सामाजिक जीवन में परम्परा मान्य विभिन्न वर्णों (जातियाँ) की सांस्कृतिक जीवनधाराओं का सूक्ष्मतम् अनुशीलन बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि आज भी भारतीय समाज पर पौराणिक परम्परा का प्रभाव पर्याप्त स्थापित है, जबकि इतिहास के अनेक मूलभूत आधार यथा– राज्य, राजनय, सामाजिक संरचना, सामाजिक स्तर, वर्ण, जाति, शिल्प, व्यवसाय, वर्ग एवं वर्ग–संघर्ष, जाति तथा जातीय–द्वन्द्व तथा पौराणिक धर्म एवं उसके कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। स्पष्टतः साहित्यिक कलेवर इन अन्तर्द्वन्द्वों को उस तरह समाहित नहीं कर पाया है जैसा कि इनका व्यवहारिक रूप था।

भारतीय संस्कृति की प्रकृति पौराणिक वाँ.मय (पुरातन भवती तिपुराणं) की तरह पुरातन मान्यताओं को, मूल्यों को अथवा जीवनादर्शों को सुरक्षित एवं सुनियोजित करते हुए नित–नूतन मान्यताओं को आत्मसात करने की ओर रही है। आज भी हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारतीय समाज वर्णाश्रम व्यवस्था की पारम्परिक मान्यताओं को स्वीकार करता है, यद्यपि देश–काल तथा परिस्थितियों में आये बदलाव ने वर्ण एवं जाति के मूलभूत अन्तर को लगभग मिटा सा दिया है।

भारतीय संस्कृति के ग्रंथों में पुराणों का स्थान अन्यतम् है। पुराण सार्वजनिक ज्ञान के विश्वकोष है। इनमें वेद–विषयक सामाग्री के साथ–साथ लौकिक जीवनधारा को एक साथ उपन्यस्त किया गया है। वे अपने अंदर देवशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, भूगोल, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, और संविदाओं पर सूचनाओं की संक्षिप्तकाएं रखते है। ये संकलित ग्रन्थ है। संकलन कर्ताओं ने अपनी विशिष्ट शैली के द्वारा वैदिक तत्वों एवं क्रिया–कलापों का प्रतिपादन लोक–दृष्टि से किया है। उन्होंने श्रुति परम्परा की जटिलता एवं दुरूहता के लौकिक आचार–संहिता का रूप प्रदान किया है। ऐसा करने में एक तरफ वैदिक आचार–संहिता का सम्यक् समाहार हुआ है तो दूसरी तरफ समसामयिक तथ्यों का परिपूर्ण प्रतिपादन। इस तरह पुराण लोक समुदाय के लिये विधायित उदार शिक्षा के वाहक प्रतीत होते हैं।

वायु पुराण के अनुसार 'पुराण' का अर्थ है– ''जो प्राचीन काल से जीवित हों''। जबकि मत्स्य पुराण में पुरातन काल की घटनाओं को ही 'पुराण' कहा गया है। यास्क ने तो ''पुराण'' उसी को माना है जो प्राचीन होकर भी नया होता है। पुराण शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है, किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उस समय पुराण ग्रन्थों के रूप में होंगे, संवभवतः इस समय तक पुराण ''प्राचीन कथा'' अथवा ''प्राचीन विवरण'' के रूप में व्यवहृत होते थे। छांदोग्योपनिषद में

इतिहास पुराण को पंचम्वेद कहा गया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि इस समय तक ''पुराण'' ग्रंथ के रूप में अपना आकार ग्रहण कर लिये होंगे।

उल्लेखों से विदित होता है कि ज्यों–ज्यों पुराण विश्वकोश का रूप धारण करते गये और अपने में मानवोपयोगी सभी विषयों का समाहार करने लगे, त्यों–त्यों इतिहास तथा धर्मशास्त्र आदि विषयों का समाहार भी पुराण में होने लगा। पुराण के विशाल वाँ.मय में अठारह पुराणों का, अठारह या इससे भी अधिक उप–पुराणों का तथा रामायण और महाभारत इन दोनों भारत के राष्ट्रीय इतिहास–ग्रन्थों का समावेश समझा गया, जिनकी सम्मिलित श्लोक संख्या सवा पाँच लाख बताई गई, जैसा कि मत्स्यपुराण में भी उल्लिखित है। इस तरह पुराण वाँ.मय अपने विशाल कलेवर के अन्तर्गत इतिहास पुराण, गाथा और नाराशंसी–सभी को समेटे हुये था। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में ''पुराण'' शब्द उतना रूचिकर न रहा, परिणामस्वरूप इतिहास से ऐतिहासिक काव्य–पुराण से पुराण या पुरातत्व ग्रन्थ, गाथा से कथा और आख्यान साहित्य तथा नाराशंसी से ऐतिहासिक वीर–काव्य, रामायण, महाभारत आदि विकसित हुए।

पुराणों में पंच लक्षण पाये जाते है। इनके नाम है, **सर्ग**–ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना **प्रतिसर्ग**–प्रलय के उपरांत पुनः सृष्टि, **वंश**– देवों, सूर्य, चन्द्र एवं कुलपतियों के वंश, **मन्वन्तर**–काल की विस्तृत सीमावधियाँ तथा **वंशानुचरित**– सूर्य, चन्द्र एवं अन्य वंशों के उत्तराधिकारियों के कार्य एवं इतिहास। ऐसा समझा जाता है कि इन पंच लक्षणों का सम्यक् समाहार जिन पुराणों में हुआ है, वे प्रारम्भिक पुराण है। इसके अन्तर्गत मत्स्य, वायु, विष्णु एवं ब्राह्माण्ड पुराण परिगणित किये जाते है। इसके विपरीत परवर्ती पुराणों में पंच लक्षणों का पूर्ण निर्वहन न होकर आंशिक निर्वहन मिलता है। इतना ही नहीं परवर्ती पुराणों के निर्धारण में गुप्तोत्तर युगीन मध्यकालीन अनेक नवीन परम्पराओं के समाहार को भी अनुरेखित किया जाता है, जिनका प्रारम्भिक पुराणों में अभाव है।

पुराणों में वर्ण व्यवस्था एवं उससे उपजी जाति–व्यवस्था की चर्चा की गई है। प्रारम्भिक पुराणों से विदित होता है कि प्रारम्भ में समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र–इन चार वर्गों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक वर्ग को विशिष्ट कार्यों के साथ संयुक्त कर दिया गया था, जिसका उद्देश्य था–समाज में अधिकाधिक कार्य कुशलता, उत्कर्ष, समन्वयता एवं कुशल–प्रेम की सृष्टि। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग बिना दूसरे वर्गों के विशेष कर्त्तव्यों का अतिक्रमण किये अपने निजी क्षेत्र में अधिकाधिक कुशलता प्राप्त करने की कोशिश करता था। वह अपने वर्ण–धर्म का विवेकशीलतापूर्वक निर्वाह करके सर्वोच्च पूर्णता अर्थात् ब्राह्मण–प्रजापत्य लोक, क्षत्रिय–इन्द्रलोक, वैश्य–मस्तलोक तथा शूद्र–गन्धर्व लोक को प्राप्त करता था। वर्ण–व्यवस्था को शास्वत बनाने के उद्देश्य से प्रारम्भिक पुराणों ने चारों वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रमशः चारों युगों–कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का प्रतिनिधित्व भी सौंप दिया था।

यद्यपि इस व्यवस्था का आधार प्रत्येक वर्ग की मानसिक संरचना अर्थात् गुण तथा निश्चित प्रकार के कार्यों के संपादन की क्षमता अर्थात् कर्म ही था, तथापि प्रत्येक वर्ग एक–दूसरे के प्रति अनुग्रह–बुद्धि रखता था। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि अनुग्रह बुद्धि से ब्राह्मण लोग क्षत्रियों को, क्षत्रिय लोग वैश्यों को, तथा वैश्य लोग शूद्रों को शिक्षा देते थे। इस तरह सामाजिक अभियंत्रण का प्रत्येक भाग महत्वपूर्ण समझा जाता था।

प्रारम्भिक पुराणों के अनुशीलन से विदित होता है कि स्थानीय निवासी जातियों का कालान्तर में दृढ़ीकरण हो गया और इनमें कुछ वर्णशंकर एवं विदेशी जातियों के समामेलन से बहुगुणन हुआ। ये सारी जातियाँ या तो वर्ण–व्यवस्था की उपज थी या अपने अस्तित्व के लिये विभिन्न वर्णों से जुड़ने को आतुर थी।

विष्णु पुराण में कहा गया है कि आश्रमों की संख्या–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। इस तरह चार ही हैं, पाँचवा आश्रम नहीं है। निश्चित ही मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, सुगठित

और सुव्यवस्थित करने के निमित्त ही इनकी नियोजना की गई थी। वास्तव में ये जीवन के अंतिम लक्ष्य–मोक्ष की प्राप्ति के लिये मनुष्य द्वारा की जाने वाली जीवन यात्रा के मध्य के विश्राम स्थल है अथवा आध्यात्मिक सीढ़ी पर चढ़ने के चार चरण की तरह है। एक सामान्य आकांक्षी को इन सभी विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरना आवश्यक समझा जाता था। ऐसा न करने पर वह पाप का भागी बनता था। परम् लक्ष्य–ब्रह्मलोक की प्राप्ति उसे तभी हो सकती थी, जब वह ब्रह्मचारियों के लिये विदित उर्ध्वरेता मुनियों के लोक को गृहस्थियों के लिये विहित पितृलोक को तथा वानप्रस्थियों के लिये विदित सप्तर्षिलोक को यथावत् पार कर ले। संभवतः इसीलिये प्रारम्भिक पुराणों में चार आश्रमों के अनुपालन में अनुक्रमता पर विशेष बल दिया गया है। इस तरह आश्रम धर्म के सम्यक् अनुपालन से मनुष्य का जीवन अनुशासन, अध्ययन, सेवा, त्याग, आत्मत्याग और वीतराग की भावना से संकलित हो जाता था, जो उसे मानवीय व्यक्तित्व की पूर्णता की ओर अग्रसर करती थी।

आलोचित पुराणों में प्राप्त ''पुरूषार्थ चतुष्ट्य'' की विवेचना की गई है। मानव जीवन के इन चारों उद्देश्यों को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्रारंभिक पुराणों में ''त्रिवर्ग'' की चर्चा अधिक की गई है, क्योंकि अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का मार्ग त्रिवर्ग से ही होकर आता प्रतीत होता है। ''धर्म'' साधन और साध्य दोनों है। साधन के रूप में यह अर्थ एवं काम को संयमित करता है और साध्य के रूप में यह व्यक्तित्व, कर्त्तव्यों एवं गुणों से संयुक्त समझा जाता है। नैतिक सिद्धान्तों के रूप में समझे जाने के कारण धर्म का आधार विवेक है। धर्म की स्थापना सृष्टि के लिये हुई। इससे उसकी रक्षा होती है तथा संरक्षण भी प्राप्त होता है। समस्त प्राणियों को धारण करने वाला धर्म ही है। ''अर्थ'' लौकिक उन्नति का साधन है, जिसके द्वारा व्यक्ति धन और शक्ति का संयम करता है। इस तरह अर्थ सांसारिक समृद्धि की प्राप्ति को सूचित करता है। ''काम'' का संकुचित अर्थ में मनुष्य की वासनाओं से है, जो उसे गलत मार्ग की ओर ले जाती है। किन्तु व्यापक अर्थ में उसका संबंध मनुष्य की भावनाओं और इच्छाओं से है, जो उसे कार्य करने के

लिये प्ररित करती है। इस तरह काम भोग तथा इन्द्रिय सुख की इच्छा की ओर संकेत करता है। अंतिम पुरूषार्थ ''मोक्ष'' व्यक्ति को जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा दिलाता है, क्योंकि सांसारिक जीवन अनित्य तथा दुःखमय माना गया है। इस तरह मोक्ष का संबंध व्यक्ति के आत्म–विकास की उस अवस्था से है, जिसमें वह अपना एकीकरण समस्त सृष्टि से कर लेता है।

पौराणिक साहित्य में उपलब्ध वर्णाश्रम व्यवस्था की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि की चर्चा की गई है। प्रारम्भिक पुराण ऐसे संक्रमण काल की रचना प्रतीत होते हैं जब ईसा के पूर्व एवं पश्चात् की शताब्दियों तक विदेशी आक्रमणों एवं वैदिकेत्तर धर्मों के उत्थान एवं स्वयं की जटिलता एवं दुरूहता के कारण परम्परागत वैदिक–मूल्य अपना महत्व खोते जा रहे थे तो ऐसी परिस्थिति में उन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण का विकास कर वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म के माध्यम से उन तत्वों की समुचित एवं समीचीन व्याख्या की। इस तरह उन्होंने वैदिक एवं स्मृति युगीन सामाजिक–आर्थिक सिद्धान्तों को लोकप्रिय एवं व्यावहारिक बनाकर हिन्दू–धर्म का पुनरूद्धार किया।

सन्दर्भः

1. मत्स्य पुराण : हरि नारायण आम्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1907
2. मार्कण्डेय पुराण : क्षेमराज श्री कृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बम्बई।
3. वायु पुराण : हरि नारायण आम्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1905
4. विष्णु पुराण : पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता, वि0सं0 1315
5. ओम प्रकाश– प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पंचम् संस्करण, 2001

6. उपाध्याय, आचार्य बलदेव– पुरान–विमर्श, 1965

7. यादव, बी0एन0एस0– सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया

8. राय, प्रो0 सिद्धेश्वरी नारायण– पौराणिक धर्म एवं समाज

9. राय, यू0एन0– प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, 1965

10. थापर, रोमिला– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, प्रथम हिन्दी संस्करण, 2001